प्रथम अध्याय का सार-संक्षेप

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का प्रारम्भ महाराज धृतराष्ट्र द्वारा संजय से पूछे गए इस वचन से होता है- धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित युद्ध की इच्छा रखने वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने भी क्या किया। सम्पूर्ण गीता में मात्र एक ही श्लोक धृतराष्ट्र द्वारा कहा गया जो प्रथम अध्याय में है तथा जिसका अर्थ उपरोक्त वचन है। प्रथम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने एक श्लोक की मात्र एक अर्धाली कही है तथा शेष बातें संजय, दुर्योधन और अर्जुन द्वारा कही गई हैं।

धृतराष्ट्र की जिज्ञासा के समाधान हेतु संजय ने प्रारम्भ में उन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन द्वारा आचार्य द्रोण के पास जाकर उनसे द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रूप में सुसज्जित पाण्डवों की विशाल सेना, पाण्डव सेना के प्रमुख महारथियों तथा तत्पश्चात् अपनी सेना के मुख्य नायकों के बारे में बतलाते हुए क्रमशः उन्हें देखने और जानने हेतु अनुरोध करने का वर्णन किया। संजय आगे वर्णन करते हैं कि दुर्योधन आचार्य को यह आश्वस्त करते हैं कि पितामह भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सभी प्रकार से अजेय है तथा भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना जीतने में सुगम है। अन्त में दुर्योधन ने आचार्य द्रोण तथा अपने पक्ष के सभी महारथियों से अपने मोर्चे पर दृढ़ता से स्थित रहते हुए प्रधान सेनापति भीष्म की रक्षा करते रहने का अनुरोध किया क्योंकि दुर्योधन का यह मानना था कि भीष्म अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डव सेना का संहार करने में सक्षम हैं। स्वयं भीष्म ने भी यह व्यक्त किया था कि वे पांचों पाण्डवों का वध नहीं करेंगे तथा जन्म से स्त्री शिखण्डी यदि उनके सामने युद्ध करता हुआ आ जाएगा तो वे उसके ऊपर भी प्रहार नहीं करेंगे। इन्हें छोड़कर यदि वे पहले ही धराशायी न हो गए तो समस्त पाण्डव सेना का संहार एक मास में कर डालेंगे। दुर्योधन की यह योजना थी कि भीष्म द्वारा पाण्डव सेना के संहार के साथ उनके अन्य महारथी पांचों पाण्डवों तथा शिखण्डी को अवश्य मार डालेंगे।

संजय ने अपने वृत्तान्त का क्रम धृतराष्ट्र से जारी रखते हुए कहा कि दुर्योधन के आचार्य द्रोण से उपरोक्त कथन पर उनकी कोई भी प्रतिक्रिया न देखकर भीष्म ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंह के समान

गरजकर जोर से अपना शंख बजाया। इस शंख ध्वनि से उत्साहित होकर कौरव सेना के योद्धाओं ने अपने विभिन्न प्रकार के युद्ध सम्बन्धी वाद्य यंत्र बजाए। तत्पश्चात् पाण्डव पक्ष की ओर से श्रीभगवान् कृष्ण-अर्जुन-भीम समेत सभी पाण्डवों ने अपने विशिष्ट शंखों से तथा पाण्डव सेना के अन्य योद्धाओं ने अपने अलग-अलग शंखों से ध्वनि की जिनकी सामूहिक ध्वनि से कौरव पक्ष भयभीत हो गया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कौरव सेना पाण्डवों की सेना से डेढ़ गुनी से भी अधिक थी किन्तु कम संख्या वाली सेना की शंख ध्वनि से भयभीत होने का कारण यह है कि पाण्डव सेना न्याय और धर्म को लेकर युद्ध क्षेत्र में खड़ी थी, अतः उसका आत्मबल अधिक था जबकि कौरव सेना अनीति, अन्याय और अधर्म की पक्षधर थी। इस कारण कौरव सेना का आत्मबल गिरा हुआ था।

आगे संजय ने धृतराष्ट्र को **महीपते** सम्बोधित करते हुए बताया कि अर्जुन ने आपकी सेना को मोर्चा बांधे हुए युद्ध के लिए तत्पर देखकर अपने हाथ में अपना गाण्डीव धनुष उठाकर अपने सारथी श्रीकृष्ण से रथ को ले चलकर दोनों सेनाओं के मध्य में तबतक खड़ा रखने का अनुरोध किया जब तक वह यह न देख लें कि विपक्षी सेना में उसे किनके-किनके साथ युद्ध करना उचित है। साथ ही अर्जुन यह भी देखना चाहते हैं कि आपके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले कौन-कौन से राजा लोग युद्ध में भाग ले रहे हैं।

सर्वनियन्ता एवम् सर्वान्तरयामी श्रीभगवान् इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे और उन्होंने अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में भीष्म और द्रोण के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने खड़ा करते हुए कहा- पार्थ! युद्ध के लिए एकत्र हुए इन कुरुवंशियों को देखो- **पार्थ पश्य एतान् समवेतान् कुरून्।** यहाँ कुरुवंशियों से तात्पर्य केवल धृतराष्ट्र पुत्रों तथा दुर्योधन की तरफ से युद्ध में उपस्थित कुटुम्बीजनों से नहीं है बल्कि पाण्डवों के पक्ष में उपस्थित कुटुम्बीजनों से भी है। महाराज कुरु धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों के ही पूर्वज थे जिनके नाम पर कुरुवंश विख्यात हुआ। इस प्रकार श्रीभगवान् ने **कुरून्** कहकर दोनों ही पक्ष के कुरुवंशियों को देखने के लिए कहा। श्रीभगवान् का मात्र इतना कथन **गीतोपाख्यान** का बीज मंत्र माना जाता है। भगवान् के इस कथन ने अर्जुन के

अन्तःकरण में अपने ही परिवार जनों को एक-दूसरे को मरने-मारने के लिए तैयार देखकर कौटुम्बिक आसक्ति और मोह उत्पन्न करते हुए स्वधर्म से विरत होने का भाव उत्पन्न कर दिया तथा उन्हें इतना विषादग्रस्त कर दिया कि वे स्वधर्म से विपरीत तर्कों का आश्रय लेकर अवांछित प्रलाप करने लगे। यही अर्जुन का विषाद था, जिसे आधार बनाकर तथा निमित्त मानकर आगे चलकर श्रीभगवान् ने अर्जुन सहित सभी के कल्याण हेतु **गीतोपदेश** किया।

दोनों सेनाओं के मध्य में हाथ में गाण्डीव उठाए हुए अर्जुन ने देखा कि उभय पक्ष में उनके ताऊ-चाचा, पितामह-परपितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र-भतीजे, श्वसुर, साले, मित्र तथा सुहृद लोग ही युद्ध हेतु रण क्षेत्र में खड़े हैं। स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन के ऊपर मोह जनित भीरुता का प्रभाव भी तत्क्षण हो गया। उनके शरीर में सात विपरीत लक्षण तथा एक मानसिक अवसाद का लक्षण प्रकट होने लगा। श्रीकृष्ण से उन्होंने अपनी इस स्थिति का वर्णन किया। अंग शिथिल होने, मुख सूखने, शरीर में कपकपी, रोंगटे खड़े होने, हाथ से गाण्डीव फिसलकर गिरने की स्थिति तथा त्वचा में ताप होने की शारीरिक स्थिति तथा मन के भ्रमित होने की अवसाद पूर्ण स्थिति का वर्णन करते हुए अर्जुन ने यहाँ तक कह दिया कि कृष्ण मैं अब खड़े रहने में भी समर्थ नहीं हूँ।

अपनी शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का वर्णन करने के उपरान्त अर्जुन युद्ध से अनिच्छा व्यक्त करते हैं तथा युद्ध न करने के अपने निर्णय को अनेक प्रकार से पुष्ट करने का प्रयास करते हैं। एक तो चतुर्दिक हो रहे अपशकुनों का आश्रय लेते हैं साथ ही उनके शरीर की जो स्थिति हो रही है, उन्हें जो मानसिक अवसाद हो रहा है उसे भी वे अपशकुन ही मानने लगते हैं।

अर्जुन दार्शनिक भाषा का प्रयोग करने से नहीं चूकते। वे अपने लिए विजय, राज्य, सुख-भोग और जीवन की निरर्थकता की बात करते हैं। यहाँ उनका तर्क है कि कुटुम्बियों, स्वजनों तथा सम्बन्धियों के लिए ही इन राज्य-सुखभोगादि की इच्छा होती है, किन्तु जब ये सम्बन्धी ही अपने प्राणों और धन की आशा त्याग कर रण क्षेत्र में युद्ध हेतु तत्पर हैं तो फिर ऐसे राज्य, विजय और सुख-भोग की आवश्यकता ही क्या है?

अर्जुन का कथन है कि युद्ध हेतु उपस्थित कुटुम्बी तथा स्वजन यदि उन्हें

मार डालने का उपक्रम करें तो भी वे उन्हें मारना नहीं चाहते। विषाद-ग्रस्त अर्जुन की यह उक्ति है कि अपने सम्बन्धियों को मारने से यदि त्रिलोकी का राज्य भी मुझे मिल जाय, जिसकी सम्भावना हो नहीं सकती किन्तु कदाचित् ऐसा यदि सम्भव हो तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर तो इस हस्तिनापुर और पृथ्वी के राज्य और सुखों की बात ही क्या है।

अर्जुन यह स्वीकार करते हैं कि दुर्योधन आदि वारणावत के लाक्षागृह में आग लगाकर मारने का प्रयास करने, भीमसेन को भोजन के साथ विष देने, छल-कपट पूर्ण द्यूत-क्रीड़ा का आश्रय लेकर राज्य तथा धन का हरण करने, जयद्रथ द्वारा द्रौपदी के अपहरण आदि कुकृत्यों के कारण आततायी हैं। किन्तु उन्हें इन आततायियों को मारने से भी पाप लगेगा। उनके मन में कदाचित् शास्त्रों की यह बात ही बैठी हुई है- **न पापे प्रति पापः स्यात्** (एक पाप का बदला लेने के लिए दूसरा पाप मत करो) तथा **स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्** (जो अपने कुल का नाश करता है, वह सबसे बड़ा पापी होता है) आदि। यद्यपि शास्त्र ही कहते हैं कि आततायी को मारने से कोई पाप नहीं लगता, उन्हें वेधड़क मार डालना चाहिए।

अन्त में अर्जुन युद्ध न करने की अपनी प्रतिबद्धता के सम्बन्ध में युद्ध के परिणाम स्वरूप कुलक्षय (नाश) होने तथा इस कुलनाश के दोषों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं। अर्जुन का तर्क है कि कुलक्षय होने पर सदा से चलते आ रहे कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और कुलधर्म का नाश होने पर शेष बचे सम्पूर्ण कुल में पाप बहुत फैल जाता है। पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। अर्जुन के कथन का आधार यह है कि जब युद्ध में कुल के आदर्श, विचारवान्, अनुभवी तथा वयोवृद्ध व्यक्ति वीरगति को प्राप्त हो जाएंगे तो बचे हुए अवयस्कों तथा स्त्रियों को कुलधर्म तथा परम्परा की शिक्षा देने वाला कोई नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में कुल मर्यादा का पालन न होने के कारण अधर्म और पाप की निश्चित रूप से वृद्धि होगी। पाप बढ़ जाने की दशा में कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाएंगी जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा वर्णसंकर की उत्पत्ति होगा। अर्जुन वर्णसंकर सन्तति

से होने वाले पारलौकिक दुष्परिणाम का भी वर्णन करते हैं। उनका कथन है कि वर्णसंकर, कुल का संहार करने वाले कुलघातियों को नरक में ले जाने के साथ ही समस्त कुल को भी नरक में ले जाने वाला होता है। साथ ही वर्णसंकर के शास्त्रीय विधि-विधान द्वारा श्राद्ध और तर्पण न करने अथवा पिण्डोदक क्रिया से पूर्णतया वंचित कर दिए जाने के कारण पूज्य पूर्वज अर्थात् **पितर** भी प्रभावित होते हैं और अपने स्थान से गिरकर अधोगति को प्राप्त होते हैं।

अर्जुन किसी भी दशा में अपने ही कुल का संहार करने वाला तथा वर्णसंकरों की उत्पत्ति में कारण बनने वाला **कुलघ्न** अर्थात् **कुलघाती** नहीं बनना चाहते क्योंकि कुलघाती के कुल के सदा से चलते आए कुलधर्म और जातिधर्म अर्थात् वर्णधर्म नष्ट हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है। साथ ही श्रुति वचन का सहारा लेकर यह भी कहते हैं कि नष्टकुलधर्म मनुष्यों को अनिश्चित काल तक नरकों में वास करना पड़ता है।

अर्जुन को इस बात का खेद है कि जिस बात पर हमारा ध्यान बहुत पहले जाना चाहिए था उस पर ध्यान बहुत विलम्ब से उस समय जा रहा है जब हम लोग राज्य और सुख के लोभ से अपने ही स्वजनों का संहार करने के भयंकर पाप के निश्चय के साथ रणक्षेत्र में खड़े हैं। हताश अर्जुन की अब ऐसी स्थिति है कि उनका कथन है कि न तो वे शस्त्र उठाएंगे और न विपक्षियों का सामना करेंगे तथा ऐसी स्थिति में यदि विपक्षी योद्धा उन्हें निःशस्त्र तथा प्रतिकार न करता हुआ देखकर उन्हें युद्धनीति के विपरीत मार भी डालें तो वह मृत्यु उनके लिए युद्ध करने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर होगी। ऐसा कहकर शोक-ग्रस्त अर्जुन बाण सहित अपने गाण्डीव धनुष का त्याग करके रणभूमि में खड़े अपने रथ के मध्यभाग में अपने स्थान पर बैठ गए।

अनेक लोगों का मत है कि गीता का प्रारम्भ दूसरे अध्याय से मानना चाहिए क्योंकि श्रीभगवान् का उपदेश दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से ही शुरू होता है। वे लोग ऐसा कहते समय कदाचित् इस बात पर ध्यान नहीं देते कि बिना भूमिका के भाव, बिना कारण के कार्य तथा बिना बीज के वृक्ष की स्थिति नहीं बनती। इसी परिप्रेक्ष्य में अध्याय-1 के पीछे निहित गूढ़ार्थ तथा गम्भीर उद्देश्य पर

विचार करने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

श्रीभगवान् अन्तर्यामी तथा सभी प्राणियों के सुहृद हैं। मानव मात्र के कल्याण के लिए ही उन्होंने अविनाशी योग का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही सूर्य को दिया था जो सूर्य से मनु, मनु से इच्छ्वाकु तथा पुनः राजर्षियों से राजर्षियों को परम्परागत रूप से दिया जाता रहा (गीता 4/1-2)। इस अविनाशी योग का ज्ञान द्वापर काल के उत्तरार्ध तक लुप्तप्राय हो गया। उस पुरातन योग की पुनर्व्याख्या श्रीभगवान् को जगत के हित के लिए करने हेतु अर्जुन जैसे सुपात्र की आवश्यकता थी। सीधे, सरल, शान्त और स्वच्छ मनोवृत्ति वाला व्यक्तित्व ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण को अर्जुन विशेष प्रिय भी हैं तभी तो उन्होंने कहा **अस्मि पाण्डवानां धनंजयः** मैं पाण्डवों में अर्जुन हूँ (गीता 10/37)।

इस अध्याय का नाम है **अर्जुन विषाद योग** जबकि **विषाद** और **योग** दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। **विषाद** का अर्थ शोक, हताशा, नैराश्य, खिन्नता, उदासी अथवा उत्साहहीनता है। **योग** का तात्पर्य है परमात्मा से जुड़ना, सम्बन्ध स्थापित होना अथवा एकीभाव। **विषाद** प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग है। विरले ही मनुष्य ऐसे हो सकते हैं जिन्हें जीवन में विषाद की स्थितियों का सामना न करना पड़ा हो। **विषाद** का कारण मनुष्य का अति संवेदनशील तथा भावुक होना, मन का बुद्धि से सामंजस्य न होने पर बुद्धि का निष्क्रिय होना, स्वजन हानि, अर्थ हानि अथवा अवमानना होता है। महान पुरुषों के जीवन में घटित विषाद भी महान ही हुए हैं जिसने उचित मार्ग-दर्शन, समाधान अथवा योग के उपरान्त उनके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर उन्हें महानतम् की श्रेणी में ला दिया।

महर्षि बाल्मीकि रचित महान ग्रन्थ **योग वाशिष्ठ** में भगवान् राम के विषाद तथा महर्षि विश्वामित्र की प्रेरणा से कुलगुरु वशिष्ठ द्वारा उनके विषाद निवारण का वर्णन है। युवक राम, महाराज दशरथ से अनुमति प्राप्त कर भाइयों सहित तीर्थ भ्रमण को गए और यात्रा के दौरान प्राप्त अनुभवों तथा मनोविश्लेषण से इतने अधिक विषाद ग्रस्त हो गए कि विश्वामित्र जी के द्वारा उनके विषाद का कारण पूछने पर राम ने अपने मोह-विषाद का कारण विस्तार से व्यक्त करते हुए अपना निश्चय भी व्यक्त किया कि **जबतक मेरी शंकाओं का समाधान नहीं**

होता, मुझे मोह, ममता और अभिमान से रहित नहीं बना देते तबतक मैं भित्ति में उत्कीर्ण चित्र के समान शान्त, मौन होकर जड़वत जीवन व्यतीत करना पसन्द करूंगा। यदि शंकाओं का समाधान नहीं हो सकेगा तो अनर्थों के मूल इस देह का परित्याग कर दूंगा। महर्षि वशिष्ठ ने उत्तम ज्ञान प्रदान कर सभी शंकाओं का समाधान करते हुए उन्हें विषादमुक्त कर दिया तथा श्रीराम से कहा- **हे राम! इससे पहले भी मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं**। महर्षि यह भी कहते हैं कि द्वापर में कृष्णावतार के समय इसी विषय पर अर्जुन भ्रमित होंगे और श्रीकृष्ण उसका समाधान करेंगे।

राजकुमार सिद्धार्थ को वृद्ध व्यक्ति, मृत शरीर, सूखे पुष्प, सूखे पत्तों, अपाहिज, रोगी आदि को देखकर विषाद हो गया। राज-पाट, पत्नी और पुत्र का परित्याग कर जंगल में जाकर विषाद के समाधान तथा शान्ति-आनन्द-निर्वाण प्राप्ति के लिए कठिन साधना-तप-समाधि में इस निश्चय के साथ बैठ गए कि-

इह आसने शुष्यतु में शरीरं, त्वगस्थि मांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं, नेवासनात्काय इदं चलिष्यति।।

(जब तक मुझे दुर्लभ ज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा मैं इसी आसन पर स्थिर बैठा रहूंगा भले ही आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर सूख जाय तथा त्वचा, हड्डी और मांस गल जाये)। सुजाता ने उन्हें खीर खिलाई। उन्हें समाधि लग गई जो सातवें दिन टूटी। सुजाता को आश्चर्य हुआ कि सात दिन तक उनका शरीर कैसे रहा? तब तक सिद्धार्थ, गौतम बुद्ध हो चुके थे, उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया था। बुद्ध ने सुजाता को जड़ शरीर और आत्मतत्त्व का भेद बताया। उसी समय एक शव को ले जाते देखकर बुद्ध हँसने लगे। सुजाता बोली- पहले तो आप मृत्यु (शव) से डरते थे, इसी कारण से राज-पाट भी छोड़ा, आज क्यों हँसने लगे? बुद्ध ने कहा कल तक मैं सोचता था कि मैं भी शरीर के साथ मर जाऊँगा, किन्तु मैं आज इसका रहस्य जान गया हूँ।

घोर विषाद, उसके समाधान तथा उत्कृष्ट उपलब्धियों के अनगिनत उदाहरण हमारे धर्म ग्रन्थों में हैं। महाराज पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त हस्तिनापुर साम्राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर ही थे। किन्तु दुर्योधन के दुराग्रह, हठधर्मिता, लोभ आदि के कारण सभी पाण्डु पुत्रों को

बाल्यकाल से ही दुर्योधन द्वारा शकुनि, कर्ण, दुःशासन तथा राजा धृतराष्ट्र के सहयोग से रचित कुचक्रों से जूझना पड़ा। सबसे अन्त में बारह वर्षों का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञात वास का कष्ट उठाने के उपरान्त भी पूर्व निर्धारित शर्तों के अनुसार पाण्डु पुत्रों को उनका राज्य वापस नहीं मिला। पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, विदुर, माता गान्धारी, महर्षि वेदव्यास तथा अन्य भद्रजनों द्वारा धृतराष्ट्र पुत्रों को समझाने की युक्ति भी काम नहीं आई। स्वयं श्रीकृष्ण भी शांति दूत बन कर गए, किन्तु दुर्योधन ने बारीक सुई की नोक से छिद सकने वाला भू-भाग भी पाण्डवों को देने से मना कर दिया। अन्ततोगत्वा विवश होकर अपना न्यायोचित पैत्रिक राज्य भाग प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की प्रेरणा तथा माता कुन्ती की आज्ञा से राज्यधर्म पोषित स्वधर्म के अनुसार पाण्डवों को धर्मयुद्ध करने का निश्चय करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में धृतराष्ट्र पुत्रों द्वारा किए जा रहे अन्याय, अधर्म का, अपने जीवन मूल्यों को महत्व न देते हुए भी प्रतिकार करना ही पाण्डवों के लिए स्वधर्म था। **श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः** तथा **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** की बात भी आगे चलकर गीता में ही श्रीभगवान् ने कही है(3/35)।

अर्जुन के अनुरोध पर श्री कृष्ण ने उनके रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दिया और कहा- **पार्थ। युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन (दोनों पक्षों के) कुरुवंशियों को देखो।** यहाँ यह बात नहीं थी कि अर्जुन इस बात से अनजान थे कि दोनों पक्षों में कौन-कौन लोग युद्ध में भाग ले रहे हैं तथा उन सभी से उनके क्या सम्बन्ध है। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन का अंतःकरण पर अलग तथा विशेष प्रभाव पड़ता है, उसमें भी श्रीकृष्ण जैसे व्यक्तित्व का इन्हें देखने का गहरा संकेत। दोनों पक्षों में मरने-मारने के अंतिम निश्चय से एकत्र आप्त-स्वजन-सम्बन्धियों की पाँच पीढ़ियों ने अर्जुन के हृदय तथा मन-मस्तिष्क को झकझोर कर रख दिया। वे अत्यन्त शोक-विषाद ग्रस्त हो गए। स्वजन-कौटुम्बिक मोह ने उन्हें इतना द्रवित कर दिया कि उन्हें स्वधर्म विगुण मालूम पड़ने लगा। युद्ध न करने हेतु अपनी परिवर्तित मनः स्थिति के समर्थन में जितना कुछ भी अर्जुन कह सकते थे, सभी कुछ कहा, कुछ भी शेष नहीं रखा। श्रीकृष्ण मौन रहकर पूरी बात सुनते रहे, समर्थन में शिर भी नहीं हिलाया। वे भली भांति यह जानते थे कि रोग के

सफल उपचार तथा औषधि के पूर्ण प्रभाव के लिए यह परम आवश्यक होता है कि रुग्ण व्यक्ति को अपनी वेदना व्यक्त करने का पर्याप्त अवसर मिले। मनोरोगी के लिए तो यह सब और अधिक आवश्यक होता है। अर्जुन की भूमिका यहाँ मनोरोगी की है। प्रथम अध्याय के अन्त तक अर्जुन ने अपने मोह-जनित विषाद का तर्क युक्त विशद वर्णन जारी रखा तथा युद्ध न करने के निश्चय के साथ अपने धनुष-वाण नीचे डालकर रथ के मध्य भाग में अपने स्थान पर बैठ गए।

अगले अध्याय-2 में कुछ मोह-जनित विषाद की शेष बची बातों का वर्णन अर्जुन, श्रीकृष्ण से करेंगे। तत्पश्चात श्रीकृष्ण ग्यारहवें श्लोक से उपदेश देना प्रारम्भ करेंगे। बीच-बीच में उपदेश क्रम में अर्जुन अपनी शंकाएं व्यक्त करेंगे। यह क्रम श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में अट्ठारहवें अध्याय तक चलता है। क्रम तभी टूटता है जब अर्जुन यह कहते हैं कि **हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, संशयरहित हुआ मैं आपके वचन का पालन करूंगा अर्थात् स्वधर्म का पालन करूंगा।**

यदि श्रीकृष्ण विषादग्रस्त अर्जुन को उपदेश न कर सामान्य स्थिति में उपदेश करते तो कदाचित् अर्जुन उतनी एकाग्रता से उपदेश नहीं सुनते और यदि सुनते भी तो वाणी बिना मर्म के मर्मस्थल तक पहुंच कर हृदयंगम न होती। श्रीकृष्ण ने बुद्धि रूपी सारथी, उत्कृष्ट गुरु तथा योगेश्वर के रूप में अर्जुन के मोह-विषाद-जन्य सभी समस्याओं का समाधान करते हुए जो अविनाशी योग का ज्ञान प्रदान किया वह समस्त मानव समाज के लिए उपयोगी है। प्रत्येक मनुष्य प्रायः शोक, मोह, ममता, अहंता आदि विषाद-जन्य कारणों से ग्रसित है। जो व्यक्ति इन समस्याओं से जितना अधिक ग्रस्त है, आकंठ डूबा हुआ है उसके लिए गीतोपदेश उतना ही अधिक उपयोगी तथा सार्थक है। इन सभी बातों पर सूक्ष्म विचार करने पर **अर्जुन विषाद योग** नामक इस प्रथम अध्याय का महत्व समझ में आता है। इस अध्याय में व्यक्त विषाद का ही सुफल है कि आगे चलकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर सम्पूर्ण जगत को दुर्लभ ज्ञान प्रदान किया तथा अर्जुन को ज्ञान से ओत-प्रोत कर अपने ही साथ योगारूढ़ भी कर लिया।